AHS-9

प्रज्ञापराध की वेदमूलकता

डॉ. गणेश भारद्वाज
प्रोफेसर, पंजाब यूनि., वी.वी.बी. संस्कृत संस्थान,
साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)
पिन- 146`21.

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में सर्वत्र महापुरुषों, मनीषियों तथा विज्ञानियों ने मनुष्य जीवन को सुखी, नीरोग तथा समृद्ध बनाने के लिए अनथक प्रयास किये हैं। जिसके कारण अनेक दर्शन ग्रन्थों तथा चिकित्सा पद्धतियों का प्रणयन हुआ है। अतएव चीन, रोम, यूनान तथा मिस्र देशीय शभ्यताओं ने विश्व को अमूल्य साहित्य तथा चीनी, ऐलोपैथिक और यूनानी चिकित्सा प्रणालियां प्रदान की हैं। भारत विश्व का सर्वाधिक प्राचीन सुसंस्कृत राष्ट्र होने के कारण वाङ्मय तथा चिकित्सा पद्धतियों की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध है। आयुर्वेद भारतीय मनीषियों की अमृतघटमयी मञ्जूषा है, जो मानव मात्र के कल्याण के लिए समर्पित है। चरकसंहिता आयुर्वेद का प्राचीन तथा सम्पूर्ण प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रमुख संस्कर्ता आचार्य अग्निवेश (चरक) तत्कालीन (ई.पू. 2 शताब्दी या इससे भी प्राचीन) भिषजाचार्यों के अन्यतम प्रतिनिधि हैं। चरकसंहिता में मुख्यत: आयुर्वेद मनीषी आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के चिन्तन (कथन) - का ही निवेश है। आयुर्वेद का प्रज्ञापराध सिद्धान्त मानव मात्र के रोगों/दु:खों के हेतुओं को जानने तथा उनके निराकरण करने का एक महत्त्वपूर्ण गहन अध्यवसाय है।

चरकसंहिता के शारीरस्थानम्, द्वितीयाध्याय में प्रश्नोत्तर शैली में तात्त्विक विषयों की गम्भीर विस्तृत परिचर्चा हुई है। वहीं पर एक आचार्य ने पूछा है यह प्रश्न- *रोगा: कुत: संशमनं किमेषाम् ?* रोग कैसे होते हैं, और उनके संशमन का क्या उपाय है? उत्तर-

प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था हेतुस्तृतीय: परिणामकाल: ।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकाला: समयोगयुक्ता: ॥[2]

रोगों के तीन हेतु हैं- प्रज्ञापराध, विषम अर्थ (असात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग) तथा काल (ऋतु) परिणाम। इनके संशमन का उपाय है- ज्ञान (बुद्धि), अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) और काल का समयोग से युक्त होना। यहां प्रज्ञापराध का अर्थ है- धी-धृति-स्मृति-विभ्रंश- धी, धृति और स्मृति का भ्रष्ट होना। वस्तुत: चरकसंहिता में प्रतिपादित इस प्रज्ञापराध का सिद्धान्त मूलस्रोत वैदिक संहिताओं में निहित है- यथा धी, धृति और स्मृति का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है यजुर्वेद के शिवसङ्कल्प-सूक्त के तृतीय मंत्र में -

यत्प्रज्ञान मुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रज्ञासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु॥[3]

इस मन्त्र में मन के स्वरूप का वर्णन करते हुए, इसके विभिन्न गुणों तथा अन्त में इसके शिवसङ्कल्पयुक्त होने की कामना की गई है। जो मन प्रज्ञानम् = ज्ञान का उत्तम भण्डार है, चेत: = स्मरण शक्ति वाला है, और धृति: = धारणा शक्ति वाला है; यह मन प्राणियों में अमृतम् = अमर, अनश्वर ज्योति है अथवा प्राणियों में अमृतरूप है (अमृत का सेवन करने पर सब व्याधियाँ दूर हो जाती हैं)। जिसकी सहायता के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जाता है; केवल बाह्य कर्म ही नहीं बल्कि शरीर की आन्तरिक क्रियाएं- अन्न पाचन, रुधिर-अभिसरण आदि क्रियाएं भी मन की सहायता से ही सम्पन्न होती हैं; ऐसा मेरा मन शिवसङ्कल्पयुक्त हो।

इस मन्त्र में मन के प्रज्ञानम्, धृति: तथा चेत: विशेषणों का उल्लेख हुआ है; ये विशेषण ही चरकसंहिता में धी, धृति तथा स्मृति नामों से अभिहित हुए हैं। इनका संयुक्त का नाम ही प्रज्ञा है और इनका भ्रष्ट होना ही प्रज्ञापराध है।

अथर्ववेद में रोगोत्पत्ति के हेतु शरीरान्तर्गत विष, कृमि, त्रिदोष, आनुवांशिक रोग, संक्रमणशील व्याधियां आदि कहे गए हैं जब शरीर में कभी किसी प्रकार का कुछ मलरूप विष संचित होता है, तब वह विष ही रोग का कारण बन जाता है।[4]

द्वितीय हेतु रोगोत्पादक कृमि कहे गये हैं। ये कृमि अन्न, जल और दुग्धादि पदार्थों में प्रवेश कर जाते हैं तब इन खाद्य पदार्थों के सेवन करने से ये कृमि मानव शरीर में प्रविष्ट हो कर मनुष्य को रुग्ण कर देते हैं।[5]

रोगोत्पत्ति का तृतीय हेतु त्रिदोष कहा गया है, जब त्रिदोष कुपित होता है तब वह शरीर को दूषित कर रुग्ण कर देता है। अपने-अपने कारणों के अनुसार ये दोष रोग उत्पन्न करते हैं।[6]

एवमेव अथर्ववेद में द्विविध मानसिक रोगों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम प्रकार के मानसिक रोगों में शोकज्वर, कामज्वर, पापज्वर और यक्ष्मादि का परिगणन किया गया है। इन रोगों के हेतु शोक, मोह, ईर्ष्या और क्रोधादि असात्त्विक भावों को माना गया है।[7] और द्वितीय प्रकार के मानसिक रोगों में उन्माद तथा दु:स्वप्न (निद्राक्षय) का उल्लेख मिलता है। देवों, सन्तों तथा विद्वानों के अपमान करने से और सात्त्विक वृत्तियों के उल्लंघन से तथा गर्हित कामवासना से पीड़ित व्यक्ति को निद्राक्षय जैसे रोग ग्रसित कर लेते हैं। जिससे मनुष्य मस्तकशूल (माइग्रेन) और शिर:शूल आदि व्याधियों से पीड़ित हो जाता है।[9]

मूलत: वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित इन रोगों के हेतु तथा इनकी निवृत्ति उपायरूप ज्ञानमीमांसा ही आगे चल कर चरकसंहिता के काल में आयुर्वैदिक ऋषियों-मनीषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से परिवर्धित होकर विस्तृतरूप में प्रज्ञापराध सिद्धान्त की मूलभित्ति बने। चरकसंहिता के शारीरस्थानम्, प्रथमाध्याय में रोगों/दु:खों के हेतुओं की चर्चा की गई है:-

धी-धृति-स्मृति विभ्रंश: सम्प्राप्ति: कालकर्मणाम्।
असात्मार्थागमश्चैव ज्ञातव्या दु:खहेतव: ॥[10]

धी, धृति और स्मृति का विभ्रंश (भ्रष्ट हो जाना =प्रज्ञापराध), कालकर्मों की सम्प्राप्ति (ऋतुकाल का परिणाम) और असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग, ये ही दु:खों/रोगों के त्रिविध हेतु हैं।

रोगों का दूसरा हेतु है- काल-कर्म-सम्प्राप्ति (ऋतुकाल का परिणाम)। इसी अध्याय में कहा गया है-

मिथ्यातिहीन-लिंगाश्च वर्षान्ता रोगहेतव: ।
एषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजा: ॥[11]

विपरीत लक्षण से युक्त (मिथ्यायोग), अतिलक्षणयुक्त और हीनलक्षणयुक्त वर्षादि ऋतु रोग हेतु होते हैं। इन ऋतुओं में होने वाले रोगों को कालज कहते हैं। स्वरूप-वैपरीत्य मिथ्यायोग होता है, यथा ग्रीष्म में शीत, जाड़े में गर्मी और वर्षाकाल में वर्षा का अभाव। स्वरूप का अभाव या अल्पता हीनयोग होता है जैसे ग्रीष्म में गर्मी कम पड़ना, या वर्षा काल में अल्पवर्षा होना, स्वरूप या आधिक्य अतियोग होता है; जैसे ग्रीष्म में अतिगर्मी, शीत में अति जाड़ा पड़ना।

रोगों का तृतीय हेतु है- असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग-असात्म्य का अर्थ है- *असात्म्यमिति तद्विद्यान्न याति सहात्मताम्॥*[12] सात्म्य का अर्थ है- आत्मा (मन और शरीर) के अनुकूल, हितकारी, जो रूप, रसादि पदार्थ आत्मा स्वप्रकृति के प्रतिकूल, विरुद्ध/हितकारी हों, उन्हें असात्म्य कहते हैं। असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग का वर्णन शारीरस्थानम् में ही किया गया है-

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च।
शब्दानां चतिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जड़ा: ॥[13] इस श्लोक में शब्दविषय और कर्णेन्द्रिय के संयोग की चर्चा की गयी है- अत्युग्र शब्द सुनने से (अतियोग), थोड़ा भी सुनने से (हीनयोग) तथा अत्यन्त हीन (हल्का) शब्द सुनने से (अल्पयोग) श्रवणेन्द्रिय कर्ण जड़ (बधिर)/ नष्ट हो जाता है। इसी तरह त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राणेन्द्रिय के साथ स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषयों के (अतियोगादि त्रिविध विकल्पों सहित) संयोग की विस्तृत चर्चा इस अध्याय में की गयी है। यह असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग विविध दोष/रोग प्रकोपक होता है।

कर्म अतियोगादि- चरकसंहिता के सूत्रस्थान, तिस्रैषणीय अध्याय में रोगों के एक अन्य हेतु त्रिविध कर्म प्रज्ञापराध का उल्लेख प्राप्त होता है। कर्मवाङ्मन: शरीररातिप्रवृत्तिरोग:, सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोग:, वेगधारणो-दीरण-विषम-स्खलन-

Vijnana Bharati

पतनाङ्गप्रणिधानादङ्गप्रदूषण-प्रहार-मर्दन प्राणोपरोध-संक्लेशनादिः शारीरो मिथ्यायोगः, सूचकानृताकाल कलहप्रिया-बद्धा-नुपचार-परुषवचनादिर्वाङ्मिथ्यायोगः, भयशोक-क्रोध-लोभ-मोह-मानेर्ष्या-मिथ्यादर्शनादिर्मानसो मिथ्या-योगः। इतित्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्[14]

वाणी, मन और शरीर की चेष्टाओं का नाम कर्म है। वाणी, मन तथा शरीर की किसी कार्य विशेष में अधिक प्रवृत्ति होना अतियोग है। इनकी सर्वथा अप्रवृत्ति को अयोग कहते हैं। वात, मूत्र, पुरीष आदि के वेगों को रोकना, जो वेग उत्पन्न न हुए हों, उनको उभाड़ना, बलात् प्रेरित करना, विषम स्थानों पर जाकर फिसल जाना, अधिक चलना, गिर जाना, अंगों को विषम स्थिति में रखना, प्राणवायु का अधिक देर तक रोकना आदि शरीर के मिथ्यायोग हैं।

चुगली करना, झूठ बोलना, झगड़ा करना, अप्रिय, कठोर भाषण आदि वाणी के मिथ्यायोग हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त त्रिविध विकल्प (अतियोगादि) और त्रिविध कर्म (वाणी, मन और शरीर द्वारा किये गये अतियोगादिसहित कर्मों) को प्रज्ञापराध ही समझना चाहिए।

धी-धृति-स्मृति-विभ्रंशः- उपर्युक्त वर्णित हेतुओं में रोगों का प्रथम तथा मुख्य हेतु है- प्रज्ञापराध, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। प्रज्ञापराध का स्वरूप है- धी-धृति-स्मृतिविभ्रंशः- धी (बुद्धि), धृति और स्मृति का भ्रष्ट हो जाना, इसी अध्याय में धी, धृति और स्मृति के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया गया है। धी (बुद्धि) का स्वरूप- बुद्धिः समं पश्यति।[15] शरीर और मन के हितकर और अहितकर विषयों (वस्तुओं) का ज्ञान बुद्धि या धी कहलाता है। धृतिर्हिनियमात्मिका[16] मन का नियन्त्रण करने वाले शक्ति ही धृति है। ज्ञान और स्मृति होने पर हितकर वस्तुओं के सेवन और अहितकर वस्तुओं के परिहार योग्य संयम को धृति कहते हैं। ज्ञान और स्मृति होने पर हितकर वस्तुओं के सेवन और अहितकर वस्तुओं के परिहारयोग्य संयम को धृति कहते हैं। स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्[17] जिसका सेवन प्राप्त है वह वस्तु हितकर या अहितकर है, उसका उचित काल पर ध्यान आना स्मृति कहलाता है। धी, धृति और स्मृति का समवेत स्वरूप ही प्रज्ञा है और इनका भ्रष्ट होना ही प्रज्ञापराध है। और यही प्रज्ञापराध महापराध है।

प्रज्ञापराध- मूलतः मन का विषय

बुद्धया विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं च जानीयान् मनसो गोचरं हि यत्॥[18]

बुद्धि से (युक्तायुक्त, हिताहित, पथ्यापथ्य का) विपरीत ज्ञान होना तथा सही हो या न हो, विपरीत व्यवहार करना, इसे महापराध समझना चाहिए। प्रज्ञापराध (जानबूझ कर या अनजाने में) मन का विषय होता है। इसी अध्याय में प्रज्ञापराध के क्षेत्र का परिचय दिया गया है-

धी-धृति-स्मृति विभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥
उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्॥
ईर्ष्यामानभय-क्रोध-लोभ-मोहमदभ्रमाः।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देह कर्म च॥[19]

प्रज्ञापराध की परिधि में आने वाले कार्यों का इन श्लोकों में परिगणन किया गया है। यथा मलमूत्र के वेगों को बलात् उत्पन्न करना और उत्पन्न आवेगों को रोकना, अतिमैथुन, शिष्टाचार का वर्जन, पूज्यजनों का अपमान करना, इन्द्रियोपक्रमणीय-अध्याय में कहे गये सद्वृत्त का पालन न करना; ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, मोह आदि अथवा उनके वश में किये गये निन्द्य कर्मों को शिष्टपुरुष रोगों का मुख्य कारण प्रज्ञापराध करते हैं।

इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में कहे गये सद्वृत्त-

तद्धयनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादय-त्यर्थद्वय-मारोग्यमिन्द्रिय-विजयं चेतिः, तत्सद्-वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश। तद्यथा देवगो-ब्राह्मण-गुरुवृद्ध-सिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशास्ता धारयेत्-- साधुवेशः, प्रसाधितकेशः, पूर्वाभिभाषी, अतिथीनां पूजकः, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निर्भीकः, विनयबुद्धिः, मङ्गलाचारशीलः, प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्, सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्[20]

आचार्य पुनर्वसु आत्रेय इस अध्याय में सम्पूर्ण सद्वृत्त (शुभ आचरण) का उपदेश करते हैं (इसके मुख्य अंशों का यहां उल्लेख किया जा रहा है) सद्वृत्त का आचरण करता हुआ मनुष्य आरोग्य-लाभ तथा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। यथा (कल्याणेच्छु मनुष्य) देव, गो, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध तथा आचार्य की पूजा करे; अग्न्याधान करे, सज्जनों के सदृश वेष धारण करे, केशों को संवार कर रखे, दूसरों के परिश्रम से प्रेरणा ले, किन्तु दूसरे की फल प्राप्ति से ईर्ष्या न करे, सभी प्राणियों के प्रति बन्धुत्व/आत्मीयता का भाव रखे।

नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलषेत् नान्याश्रियं, न वैरं रोचयत्, न पापेऽपि पापी स्यात्, नान्यदोषान् ब्रूयात।[21]

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरुप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो-- न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत्[22]

झूठ न बोले, पराये धन को न ले, न दूसरे की स्त्री और न दूसरे की धनसम्पत्ति (श्री) को लेने की अभिलाषा करे, पापी मनुष्य के साथ भी पापाचरण न करे। विना रत्न धारण किये; विना स्नान, शुद्ध वस्त्र धारण कियेविना, जप-हवन आदि किये विना, अन्नग्रहण न करे।

न स्त्रियमवजानीत, नाति विश्रम्भयेत्, न गुह्यमनुश्रावयेत्, नाधिकुर्यात्।
न सतो न गुरून् परिवदेत्, -- नातिसमयं जह्यात्, न नियमं भिन्द्यात्,
नेन्द्रियवशगः स्यात्, न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्।
ब्रह्मचर्यं ज्ञानदानमैत्री-कारुण्यं हर्षोपेक्षा-प्रशमपरश्च स्यादिति।[23]

स्त्रियों का अपमान न करे, सज्जनों, गुरुओं की निन्दा न करे, व्यर्थ में समय न गवाये और न ही इन्द्रियों के वशीभूत होकर कार्य करे। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दयालुता और प्रशम (शान्ति) पूर्ण कार्यों का अनुष्ठान करेङ्क

सुख (नीरोगता) का हेतु - समयोग-

शारीरस्थानम्, प्रथमाध्याय में समयोग का महत्त्व बताया गया है।
नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टचतुर्विधः॥
सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक्।
न सुखं, कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः॥[24]

सुख और दुःख का कारण न तो इन्द्रियाँ हैं और न ही उनके रूप, रस, गन्ध आदि अर्थ। वास्तव में चतुर्विधि योग-समयोग, अतियोग, आयोग और मिथ्यायोग- ही सुख-दुःख की उत्पत्ति में क्रमशः कारण होते हैं अर्थात् समयोग से सुख और शेष तीन योगों से दुःखों की उत्पत्ति होती है। सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभःङ्क[25] काल, बुद्धि, इन्द्रियार्थों का समयोग ही सुख का कारण हैङ्क

सहजविकार हेतु——

रोगों के उपर्युक्त हेतुओं के अतिरिक्त शारीरस्थानम्, द्वितीयाध्याय में सहज विकार के और भी हेतु माने गये हैं -

बीजात्मकर्माशय-कालदोषै-र्मातुस्तथाहारविहारदोषैः।
कुर्वन्ति दोषाः विविधानि दुष्टाः संस्थान-वर्णेन्द्रियवैकृतानि॥[26]
निर्दिष्टं दैव शब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥[27]

माता-पिता के बीज, आत्मा के पूर्वजन्म के कर्म, गर्भाशय, काल, माता-पिता का आहार-विहार, इनके दोषों से प्रकुपित (वातादि धातु गर्भ में) आकृति, वर्ण, इन्द्रिय आदि में विविध विकार उत्पन्न करते हैं।

दैव शब्द से निर्दिष्ट पूर्वजन्म का कर्म भी नियत काल आने पर रोगोत्पत्ति का हेतु बनता हैङ्क

कर्म की प्रधानता- पू. आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने यद्यपि रोगों/ दुःखों के विभिन्न हेतुओं की गहनमीमांसा की है तथापि वे कर्मप्राधान्य पर ही विशेष बल देते हैं।

Vijnana Bharati

वे कर्ता को ही अपने सुख-दु:ख, रोग-नीरोगता का हेतु मानते हैं। निदानस्थानम्, सप्तमध्याय में-

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसा: ।

न चान्ये स्वयमक्लिष्ट मुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदु:खयो: ।

तस्माच्छ्रेयस्करं मार्ग प्रतिपद्येत् न त्रसेत् ॥

देवानामपचितिर्हितानामुपसेवनम् ।

ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि ॥[28]

स्वास्थ्यजनक आहार-विहार के सेवन से अक्लिष्ट (स्वस्थ) मनुष्य को न देवता, न गन्धर्व और न पिशाच आदि कोई भी क्लेशित (दु:खी) कर सकतेङ्क सुख-दु:ख (स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य) का कर्ता स्वयं अपने को माने। स्वास्थ्य रक्षा के लिए श्रेयस्कर मार्ग का अवलम्बन करे। देवों का पूजन, हितसेवन तथा विपरीत आचरण ये सब अपने ही अधीन हैं, स्वास्थ्य और अस्वस्थता अपने कर्मों पर ही निर्भर हैङ्क

विश्व वाङ्मय में आयुर्वेद का विशिष्ट स्थान है और चरकसंहिता आयुर्वेद का प्राचीनतम प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में समस्त रोगों/दु:खों का मुख्य हेतु प्रज्ञापराध को माना गया है। इसका मुख्य स्रोत वैदिकसंहिताएँ हैं। इसमें प्रज्ञा के त्रिविधरूप-धी-धृति और स्मृति के स्वरूप तथा इसके भ्रंश और क्षेत्र की विशद चर्चा की गई है। समयोग को सुखों का हेतु माना गया है तथा कर्मप्राधान्य पर विशेष बल दिया गया है। इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय के अन्तर्गत सद्वृत्त के नियमों का उपदेश किया गया है। शुभ आचरण के नियमों का जैसा विस्तृत विवरण यहाँ उपलब्ध है, वह विश्वसाहित्य में दुर्लभ है तथा यह मानव मात्र की थाती है। सद्वृत्त के इन नियमों का पालन करने से मनुष्य सहज ही पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्त कर सकता हैङ्क

सन्दर्भ-सूची

1. चरकसंहिता, शारीस्थानम्, द्वितीयाध्याय, श्लोक - 39
2. तत्रैव - 4
3. वाज. सं. - 34.3
4. अथर्ववेद - 9.8.1
5. तत्रैव - 5.29.6-7
6. तत्रैव - 1.12.3
7. तत्रैव - 1.25.3
8. तत्रैव - 6.111.3
9. तत्रैव - 16.5.1
1. शारीस्थानम्, प्रथमाध्याय, श्लोक - 98
11. तत्रैव - 111, 112
12. तत्रैव - 127
13. तत्रैव - 118
14. सूत्रस्थानम्, तिस्रैषणीय, एकादशाध्याय, श्लोक - 39
15. शारीस्थानम्, प्रथमाध्याय, श्लोक - 99
16. तत्रैव - 1
17. तत्रैव - 11
18. तत्रैव - 19
19. तत्रैव - 12-17
2. सूत्रस्थानम्, इन्द्रियोपक्रमणीय, अष्टमाध्याय, श्लोक - 18
21. तत्रैव - 19
22. तत्रैव - 2
23. तत्रैव - 22, 24, 25, 27, 29
24. शारीरस्थानम्, प्रथमाध्याय, श्लोक - 13, 131
25. तत्रैव - 129
26. शारीरस्थानम्, द्वितीयाध्याय , श्लोक - 29
27. शारीरस्थानम्, प्रथमाध्याय, श्लोक - 116
28. निदानस्थानम्, सप्तमाध्याय, श्लोक - 19, 22, 23

Vijnana Bharati